''भारत के राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतंत्र-एक समीक्षा''

*** डॉ0 अरूणेश कुमार यादव**

समसामयिक वाद–विवादों में ऐसे संवैधानिक सुधारों पर बहुत कम ध्यान दिया गया है जो राजनीतिक दलों की आन्तरिक संरचना में सुधार ला सकें। कानून और चुनाव आयोग अक्सर राजनीतिक दलों से बेहतर कार्यों की अपेक्षा करते रहे, लेकिन राजनीतिज्ञों तथा जनता ने इन अपेक्षाओं को महत्वहीन बना दिया है। अतः अनेक उत्कंठाएँ ऐसे संवैधानिक सुधारों की ओर आशा लगाए बैठी हैं, जिन्हें दलों की आन्तरिक संरचना में सुधार करके ही प्रभावकारी बनाया जा सकता हैं। दलीय व्यवस्था के विखण्डन और सतत् गठबन्धन सरकारों की खोज ने प्रजातांत्रिक दायित्वों को कमजोर कर दिया है। वास्तव में तथ्य यह है कि राजनीतिक दल अपने संकुचित सामाजिक आधारों तथा दलीय सिद्धान्तों से ऊपर उठने में असमर्थ रहे हैं। जिसके कारण लोक विचार–विमर्शों का पतन हुआ है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि इसने एक सोचनीय दशा उत्पन्न कर दी है और इस सोचनीय दशा ने दलों के अन्दर एक कमजोर संस्थानीकरण को जन्म दिया है।[1]

राजनीतिक दलों के आन्तरिक क्रिया–कलापों पर ध्यान न दिया जाना चकित करने वाला विषय है। क्योंकि दल प्रजातन्त्र के आधार हैं और बिना दल के प्रजातंत्र की कल्पना असम्भव है। प्रतिनिधिमूलक सरकारों तथा उनकी संस्थाओं के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व जरूरी है। राजनीतिक दल जनता और सरकार के तथा निर्वाचकों और प्रतिनिधि संस्थाओं के मध्य कड़ी का काम करते हैं। दल प्रणाली में राजनैतिक दल विचारों, सुझावों, सामाजिक आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रसारक के रूप में कार्य करते हैं। ये विशेष विचारधारा एवं आदर्शों का समर्थन करते हैं तथा राजनैतिक मूल्यों का विकास करते हैं। उनसे अपेक्षा की जाती है कि

* असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीतिशास्त्र, जी0बी0एच0बी0 महाविद्यालय, जगतपुर, रायबरेली

वे नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करेंगे, सामाजिक समस्याओं के प्रति चेतना का विस्तार करेंगे और उन्हें राजनीतिक भागीदारी, निर्वाचन, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए संगठित करेंगे। राजनीतिक दल सक्रिय कार्यकर्ताओं की भर्ती करते हैं तथा उन्हें प्रशिक्षित करके नेतृत्व के योग्य बनाते हैं। राजनीतिक दल राजनीतिक सत्ता के वाहक होते हैं। जनता, राजनीतिक दल तथा सत्ता ये तीनों लोकतांत्रिक व्यवस्था के निर्णायक आधार है। अतुल कोहली दलों के महत्व की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि किसी देश की शासन व्यवस्था तथा आधारभूत सुधारों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश की दलीय व्यवस्था को समझा जाय। अतः इससे स्पष्ट होता है कि दल प्रजातन्त्र की अनमोल कड़ी है।[2]

राजनीतिक दलों में स्पष्ट प्रजातांत्रिक क्रियाओं के अभाव तथा कमजोर संस्थानीकरण ने भारतीय प्रजातन्त्र को प्रतिकूल रूप में प्रभावित किया है। प्रश्न यह उठता है कि दलों में आन्तरिक प्रजातन्त्र का अभाव एवं कमजोर संस्थानीकरण का क्या अर्थ है? इसका आशय यह है कि दल के आन्तरिक क्रिया–कलापों में पारदर्शिता का अभाव है तथा दलीय स्तर पर निर्णय के क्षेत्र इतने संकुचित हैं कि अधिकतर निर्णय एक बाहुबली नेता द्वारा लिए जाते हैं। कमजोर संस्थानीकरण ही दलीय विखण्डन का मुख्य कारण है लेकिन इसके अलावा भी कारण है।

प्रथम स्वतंत्र, सुसंगत सूचनाओं का प्रवाह प्रजातन्त्र की जड़ है लेकिन राजनीतिक दलों में इस प्रकार के सूचना प्रवाहों का अभाव पाया जाता है। इसका श्रेष्ठ प्रतिमान कांग्रेस पार्टी है जिसने 7वें तथा 8वें दशक में इस प्रकार के सूचना प्रवाहों को धूल–धूसरित कर दिया। द्वितीय दलों के अन्दर प्रवेश तथा विकास के क्षेत्र बड़े अस्पष्ट हैं और नवीन सामाजिक वर्गों के लिए दल के अन्दर कोई स्थान नहीं होता, जिसका परिणाम दलीय विखण्डन ही होता है।[3]

आज भारतीय राजनीति में सभी मध्यमार्गी दल अपनी

विचारधारात्मक अस्मिता खो चुके हैं। संगठन के बतौर उन्होंने अपने भीतर और बाहर की वे सभी बहसें बन्द कर दी हैं जो यह बतायें कि अन्ततः वे किन लक्ष्यों को लेकर राजनीति कर रहें हैं, उन्हें भारत का भावी समाज किस तरह का चाहिए? उसे प्राप्त करने के तौर–तरीके क्या होंगे? पार्टी के भीतर असहमति को क्या स्थान देंगे, सहमति का क्रियान्वयन कैसे करेंगे और सर्वोपरि बात यह है कि सत्ता प्राप्त करने के कार्यक्रमों के विपरीत सत्ता से बाहर रहने की स्थिति में वे किस प्रकार का सामाजिक आचरण करेंगे? क्योंकि मध्यमार्गी दलों ने इन सभी बिन्दुओं पर विचार–विमर्श बन्द कर दिया गया है। इसलिए उनके बीच से नेतृत्व के नाम पर राजनीतिक विवके से शून्य तथा कूट कर्म का सहारा लेकर राजनीति करने वाले छोटे–बड़े तानाशाह नेताओं की एक पूरी जमात पैदा हो गयी है। ये तानाशाह नेता अपने आपको किसी परिवर्तनवादी विचार से प्रतिबद्ध नहीं रखते हैं। केवल कुछ सड़े–गले यथा, ''साम्प्रादायिक ताकतें'', जातिवादी ताकतें, जैसे मुहावरों के सहारे अपनी व्यवहारिक राजनीति पर सैद्धान्तिकता का चादर चढ़ाते नजर आते हैं। इन छुट भैया तानाशाहों ने अपने दलों के बीच आन्तरिक लोकतंत्र समाप्त करके सिर्फ अपने प्रति निष्ठा को ही पार्टी, का आदर्श बना डाला। ऐसी सूरत में सहमति या लालच के चलते, पार्टी के विधायक–सांसद बिक जाते हैं, लालच का शिकार हो जाते हैं या अपने दल के भीतर भद्दे किस्म का विद्रोह पैदा किये रहते हैं।[4]

आज भारतीय प्रजातन्त्र की स्थिति बड़ी भयावह हो गयी है। लोक विचार–विमर्श का स्तर निम्न कोटि का हो गया है। संसदीय गरिमा में बड़ी द्रुत गति से गिरावट आ रही है। तात्कालिक स्वार्थ लोक मामलों पर हावी हो गये है और हमारे चुनाव राजनीतिक दलों की नूरा–कुश्ती तक सीमित हो गये हैं। क्योंकि चुनाव में मुद्दों के अभाव ने एक दूसरे पर आरोप–प्रत्यारोप की राजनीति की शुरूआत कर दी है। अतः ये समस्त परिस्थितियाँ सुधारों की मांग कर रही है और ये सुधार तभी प्रभावशाली सिद्ध होगें, जब राजनीतिक दलों में सुधार किये जाये। अब प्रश्न उठता है

कि क्या इन सुधारों के लिए केवल राजनीतिक दलों को ही प्रयास करना चाहिए? इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के तुलनात्मक अध्ययन इंगित करते हैं कि इन सुधारों के लिए सरकारी नियंत्रण भी अति आवश्यक है। जर्मनी में सरकारी नियंत्रण के अधीन दलों में आन्तरिक प्रजातंत्र की व्यवस्था की गयी है। जर्मनी में विधान सभाओं तथा संघीय क्षेत्रों के लिए प्रत्याशियों का चयन दल के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान के माध्यम से करते हैं। अमेरिका में तो दलों के आन्तरिक प्रजातंत्र की व्यवस्था के लिए अधिनियम का निर्माण किया गया है। इस अधिनियम द्वारा दलों में आन्तरिक प्रजातंत्र की स्थापना करने के लिए कुछ मानकों का निर्धारण किया गया है जो सभी बड़े दलों पर समान रूप से लागू होते हैं। अतः भारत में भी भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इन सुधारों को सतर्कता पूर्वक लागू किया जाना चाहिए।[5]

भारत में समस्त दलों में आन्तरिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था को लागू किया जाना चाहिए और इस व्यवस्था हेतु सरकार द्वारा विधि बनाकर नियंत्रण स्थापित करना चाहिए। जिन दलों द्वारा इस व्यवस्था का पालन न किया जाय, उन दलों पर चुनाव में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाये। दलों के आन्तरिक प्रजातंत्रीय व्यवस्था को व्यवहारिक जामा तभी पहनाया जा सकता है, जबकि नियंत्रण तथा निगरानी की बागडोर एक स्वतंत्र तथा शक्तिशाली चुनाव आयोग को सौंपी जाय। इस स्वतंत्र आयोग का यह दायित्व हो कि वह दलों की निगरानी करें तथा जिन दलों के द्वारा आन्तरिक प्रजातंत्र सम्बन्धी मानकों का उल्लंघन किया जाय, उनके साथ कड़ी कार्यवाही करें। यहाँ तक कि ऐसे दलों के राजनीतिक क्रिया–कलापों पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। जिन दलों ने अपने आन्तरिक चुनाव सम्पन्न न किये हो, उन्हें चुनाव में भाग लेने से रोक दिया जाय। इस प्रकार दलों में आन्तरिक प्रजातंत्र लागू हो जाने से दलीय विखण्डन रूक जायेगा, राजनीतिज्ञ अधिक उत्तरदायित्व महसूस करेंगे तथा लोक विचार–विमर्श का स्तर ऊँचा उठेगा और यह संवैधानिक सुधारों में अच्छा प्रयोग साबित होगा।

दूसरी ओर इस समूचे परिदृश्य के प्रसंग में अब यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि देश के राजनीतिक चरित्र में आयी गिरावट को, चाहे वह दल–बदल की शक्ल में हो या किसी अन्य शक्ल में, तब तक नहीं रोका जा सकता है, जब तक कि लोगों के दिमाग न बदलें। जिन राजनीतिक अखाड़े बाजों ने यह हालात पैदा किये हैं, उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे लोगों के दिमाग बदलने का काम करेंगे या कर सकते हैं। इसलिए समय की मांग है कि प्रतिबद्ध मध्य मार्गीय राजनीति को पुर्नपरिभाषित करने, इसे सैद्धान्तिक आत्मा प्रदान करने और इसकी लक्ष्यगत व्यवहारिक पद्धतियाँ निर्धारित करने के काम के लिए देश के प्रबुद्धवर्गीय समाज को पहल करनी पड़ेगी।

सन्दर्भ –

1. शोधार्थी, प्रवेशांक जनवरी–मार्च 2005, अंक प्रथम संख्या एक पृष्ठ –15
2. भारत में लोकतंत्र (एन0सी0ई0 आर0टी0) पृष्ठ– 35
3. शोधार्थी, प्रवेशांक जनवरी– मार्च, 2005, अंक प्रथम संख्या एक पृष्ठ 15–16
4. राष्ट्रीय सहारा 'हस्तक्षेप' 8 नवम्बर, 1997 पृष्ठ–4
5. शोधार्थी, प्रवेशांक जनवरी – मार्च 2005, अंक प्रथम, संख्या एक पृष्ठ–16
6. लेकतंत्र समीक्षा – वर्ष–1972 पृष्ठ – 78–80